UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182231

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 81.6 | K 12 Accession No. G.H 372

Author काक, तेजानारायण |

Title मुक्ति की मशाल | 1945

This book should be returned on or before the date last marked below.

मुद्रक
पं० भृगुराज भार्गव
भार्गव-प्रिंटिंग-वर्क्स, लखनऊ

दो शब्द

आज के कवि के सम्मुख अपने देश की स्वतन्त्रता का ही नहीं, किन्तु समस्त मानव-समाज की मुक्ति का प्रश्न है। इसीलिए प्रस्तुत-संग्रह की अधिकांश कविताओं में मेरा प्रधान लक्ष्य जाति-धर्म-निर्विशेष मानव का हित-साधन ही रहा है। मानवता की आज कैसी दुर्दशा हो रही है, उसे नष्ट होने से कैसे बचाया जाय, कैसे उसे आत्मबल प्रदान कर पुष्ट किया जाय, कैसे उसे पूर्णता की ओर बढ़ाया जाय—इन्हीं सब समस्याओं की सरस और जीवनानुभूति-पूर्ण अभिव्यञ्जना करने का मैंने इन कविताओं में प्रयत्न किया है।

मैं जानता हूँ कि ईर्ष्या, द्वेष, लिप्सा, कुटिलता, आदि अनेक हीन-मनोवृत्तियाँ मनुष्य की चिर-सहचर रही हैं, विश्व का सारा जन-समाज आज सैकड़ों जातियों, संप्रदायों, दलों और वर्गों में विभक्त है और मानव-समाज का एक बहुत बड़ा भाग आज दासता, दारिद्र्य, रोग, शोक और अज्ञान से पीड़ित है। किन्तु, यह भी मैं जानता हूँ कि

मनुष्य की उदात्त-ममोवृत्तियाँ अभी नष्ट नहीं हुई हैं, मनुष्य के हृदय की अजस्र-करुणा और प्रेम-भावना अभी सूखी नहीं है, नाना आपत्तियों और बाधाओं से मनुष्य अभी परास्त नहीं हुआ है, संघर्ष से अभी वह थका नहीं है, और संसार की समस्त नाशकारी शक्तियों के सामने वह आज भी अविजित, अनमित और अजेय है। मनुष्य के इसी अतुलनीय तेजोहम रूप के प्रति मेरी प्रगाढ़ आस्था है।

मानव-समाज के संगठन में आरंभ से ही जो बहुत कुछ हेय और निकृष्ट रह गया है, उसे मनुष्य ही नष्ट कर सकता है। यही कारण है कि मनुष्य के द्वारा एक विश्वव्यापी, सर्वतोभद्री जन-क्रान्ति कराए जाने का मैं प्रबल समर्थक हूँ। विध्वस्त मानव-समाज के खण्डहरों पर ही नवीन और सुख-शान्ति-पूर्ण, वैषम्य-हीन जन-समाज की सृष्टि संभव है। मनुष्य ही मनुष्य के समस्त कलुष और हीनता को नष्ट कर मानव-मात्र को सबल, स्वस्थ, परदुःखकातर और उदात्त बना सकता है। मनुष्य की चिरन्तन सद्वृत्तियों और निर्माण-शक्ति में मेरा विश्वास अटल है।

मेरी किसी कविता में रूस, कार्ल-मार्क्स अथवा लेनिन का नामोल्लेख होने के कारण कोई यह न समझे कि मैं समस्त विश्व में रूस के समाजवादी-सिद्धान्तों का प्रचार करना चाहता हूँ। किसी सिद्धान्त में व्यक्तिगत आस्था रखना अलग बात है, किन्तु उसका प्रचार करना मैं कवि-कर्म नहीं मानता। कविता एक जीवनानुभूतिमयी

सरस कला है, उसमें नीरस सिद्धान्त-निरूपण के लिए कोई स्थान नहीं। साहित्य का चरम लक्ष्य मानव-हृदय का परिष्कार कर मानव को मानव के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठ, जागरूक और संवेदनशील बनाना है। तभी साहित्य के द्वारा मानव-मात्र का हित-साधन किया जा सकता है। मेरी ये कविताएँ मनुष्य के इस महत्-उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक हों—मेरी यही कामना है।

'शिवाश्रम', जोधपुर
८-६-४५

तेजनारायण काक

सदियों से
अंधकार में भटकती हुई मानवता
के हाथों में
यह
'मुक्ति की मशाल'
साग्रह समर्पित है ।

प्रवचन

मानव-जीवन का यज्ञ-कुंड
है आज सुप्त, है आग मंद,
आहुति दो अपने छिन्न मुंड,
फिर हो प्रबुद्ध, फिर हो प्रचंड!

बुझा-दीपक

यह बुझा-दीपक—घिनौना मृत्तिका का पात्र !

दग्ध-उर में रह गई हैं
स्नेह की दो-चार बूँदें मात्र !

रात्रि भर जलकर किया पथ का अँधेरा दूर ;
धूम्र बनकर इसी पर अब छा गया वह क्रूर !
भिक्षुकी के ठीकरे-सा हो गया यह दीन ;
स-तम-नभ-सा करुण—काले बादलों में लीन !

बुझ चुकी है प्राण-बाती
चेतना इसमें नहीं अणुमात्र !

आज कुम्हलाया पड़ा है ज्योति का यह फूल ;
ले सुरभि-आभा जगत इसको गया है भूल !
सफल इसकी साधना यह पा गया निर्वाण ;
बुझ गया पर खींच लाया जगत में सु-विहान—

हो गया निश्चिन्त रवि को
सौंप बुझती ज्योति के कणमात्र !

फ़व्वारा

बीच पार्क के खड़ा हुआ है एक बड़ा फ़व्वारा,
मोती की लड़ियों-सी उज्ज्वल छूट रही जल धारा।
प्रातः रवि की चंचल किरणें इसे चूमने आतीं,
इस फ़व्वारे की फुहियों को सोने से मढ़ जातीं।
दिन भर कैसा छहर-छहर कर यह बूँदें बरसाता,
अपने चारों ओर धूप में हीरे-सा बिखराता!
सन्ध्या अपनी रंग-बिरंगी तूली लेकर आती,
इन बूँदों को इन्द्रधनुष के रंगों से रँग जाती।
रात चाँदनी में झर-झर कर जब चलता फ़व्वारा,
ऐसा लगता टूट रही है नभ से उल्का-धारा!

प्रातः-संध्या यहाँ न-जाने कितने प्राणी आते?
देख-देख इस फ़व्वारे को फूले नहीं समाते।
कोई कहता—'देखो तो—यह कैसा विहँस रहा है?'
कोई कहता—'रिमझिम-रिमझिम कैसा बरस रहा है?'
कितने ही पूँजीपति, बाबू, लेखक, कवि, भिखमंगे
इसी पार्क में प्रतिदिन आते कितने शुहदे-गुण्डे!
घूम रही हैं परियों-सी कितनी तितलियाँ अकेली,
प्रतिदिन धनिक साथ लाते हैं कोई नई नवेली!
लिपट रही है फ़व्वारे से जो मूरत अधनंगी,
ऐसी ही कुछ मिसें लिए आते हैं कई फ़िरंगी।
पर वे इन बूँदों-सी चंचल ऐसी ही हैं सस्ती,
इसी छलकते फ़व्वारे-सी खिल-खिलकर हैं हँसती।
दिनभर दफ़्तर में घुट-पिसकर कितने क्लर्क-किरानी
यहाँ पड़े खोजा करते हैं अपनी गई जवानी!

कोई बाबू देख खोमचा चाट-पकौड़ी खाते,
जूठे दोने फेंक घास पर औंधे-मुँह पड़ जाते।
कोई बीड़ी-सिगरट पीता कोई पान चबाता,
कोई देख किसी तितली को मन ही मन ललचाता।
फटे-चीथड़े पहने कोई पौधे सींच रहा है,
कोई नंगे-बदन सड़क पर रिक्शा खींच रहा है।
कोई बैठा है कोने में फटा टाट फैलाए,
घण्टों से ताँबे के कुछ टुकड़ों की आस लगाए।
ये सब मानव ही मानव हैं पर इनमें क्या समता ?
फ़व्वारे के आस-पास ही कैसी घोर विषमता !
सन्ध्या की अँधियारी ज्यों-ज्यों गहरी पड़ने लगती,
छोड़ अकेला फ़व्वारे को भीड़ खिसकने लगती।
पड़ते-पड़ते रात बिचारा हो जाता एकाकी,
कुछ भूखे कुत्ते, भिखमंगे रह जाते हैं बाक़ी।
दिनभर मारे-मारे फिरते सूखे टुकड़े पाने,
यहाँ रात को आ जाते हैं अपनी भूख मिटाने।
छीना-झपटी कर कुत्तों से जूठे दोने खाकर,
यहीं मृतक-से पड़ रहते हैं उर की आग दबाकर।

देख उमड़ते फ़व्वारे को कवि सोचा करता है—
यह फ़व्वारा हँसता है या फूट-फूट रोता है ?
आज धरा पर छूट रहे हैं लोहू के फ़व्वारे !
आज गगन से टूट रहे हैं शोले और शरारे !
इन भिखमंगों-सी ही लाशें भू पर तड़प रही हैं,
आज बस्तियाँ अगणित अरमानों-सी उजड़ रही हैं।
दीन-दरिद्रों की छाती पर गिरि से भवन उठाकर,
काले, कुत्सित लोहे के भीषण दानव निर्मित कर,
कैसी बेढब होड़ बदी थी मानव ने संसृति से ?

आज स्वयं ही आहत है मानव अपनी ही कृति से !
अपने ही हाथों की निर्मित मानव ने निज कारा,
क्या अपने दुख भूल सकेगा देख-देख फ़व्वारा ?
सावन की फुहियों-सा चञ्चल यह थोड़ा-सा जीवन,
पाषाणों का बन्दी बन दिखता कितना हतचेतन !
मानव के हाथों पीड़ित हो प्रतिपल रोता रहता,
जाने कितनी विषम-वेदना यह फ़व्वारा सहता !
कठिन पत्थरों की कारा से घिरकर यह बेचारा,
फफक-फफक कर फूट-फूट कर रोता है फ़व्वारा !

निर्वसना

आज सभ्यता क्यों निर्वसना ?

जिसने जन्म दिया मानव को पाल-पोस कर बड़ा किया था,
जिसकी अंचल-छाया में छिप मानव सुख से मरा-जिया था,
वही आज क्यों नग्न पड़ी है वाम हुआ क्यों उससे विधना ?
आज सभ्यता क्यों निर्वसना ?

जिसे गर्व था निज पुत्रों की काव्य-कला, वैज्ञानिकता पर,
जिसे गर्व था उनकी करुणा, शूरवीरता, बुद्धिमता पर,
वही आज क्यों लुटी खड़ी है वही चाहती है क्यों मरना ?
आज सभ्यता क्यों निर्वसना ?

जिस माँ की गोदी में मानव बच्चों-से हिलमिल खेले थे,
जिस घर के आँगन में सबने साथ-साथ दुख-सुख झेले थे,
लूटी लाज उन्हींने माँ की लुटा दिया क्यों घर भी अपना ?
आज सभ्यता क्यों निर्वसना ?

एक कोख से जन्म ग्रहण कर एक धरा की मिट्टी से पल,
जो मानव थे बन्धु-सहोदर वही न क्यों रह पाए हिलमिल,
एक-दूसरे के रिपु सब ही क्यों न दीखता कोई अपना ?
आज सभ्यता क्यों निर्वसना ?

जिस मानव ने अखिल सृष्टि को था अपना चिर-दास बनाया,
जिस मानव ने जल-थल-नभ में था अखण्ड-साम्राज्य बसाया,
उस मानव की अद्भुत क्षमता आज दीखती क्यों चिर-रुग्णा ?
आज सभ्यता क्यों निर्वसना ?

जो मानव दौड़ा करते थे अमरों से भी टक्कर लेने,
जो मानव देखा करते थे भू पर नित्य स्वर्ग के सपने,
वही आज मरते कीड़ों-से विफल हुआ क्यों उनका जीना ?
आज सभ्यता क्यों निर्वसना ?

•

जो मानव सोचा करते थे होगा विश्व-प्रेम-मय जीवन,
जो मानव सोचा करते थे होंगे सम जगती के जन-जन,
जीवन में सुख-शान्ति-मुक्ति का नष्ट हुआ क्यों उनका सपना ?
आज सभ्यता क्यों निर्वसना ?

मानवता

मानव क्यों ठगता आया है
मानवता को आदिम-युग से ?

अपने पैने पंजे - नख - रद
वस्त्रों में नित लुका-छिपाकर,
अपने पशुवत्-हिंसक-मन पर
मानवता का खोल चढ़ा कर

मानव क्यों भटकाता आया
मानव को मानवता-मग से ?

अपने क्रूर, कुटिल-हाथों से
मानवता का गला घोंट कर,
दीन - दरिद्र - दलित - वर्गों को
लूट-लूट धन एकत्रित कर

मानव क्यों ठुकराता आया
मानव को ही अपने पग से ?

करता आया रक्त-पात भी
मानव नीच-स्वार्थ से प्रेरित,
किन्तु सदा कहता आया है
वह लड़ता है मुक्ति-शान्ति-हित,

करता कुछ अपने हाथों से,
कहता है कुछ अपने मुख से !

मानव का यह ह्रास, अधोगति
उसकी पैशाचिकता, पशुता
देख-देख अपनी आँखों से
मैं मन में नित सोचा करता—

कभी बचेगी भी मानवता
इस हिंसक - मायावी - ठग से ?

कभी मिटेगी भी मानव की
तृष्णा, लिप्सा, हिंस्र - वासना ?
कभी पूर्ण भी होगी जग की
विश्व-साम्य की भव्य-कामना ?

वर्ग - जाति - देशों के झगड़े
कभी नष्ट भी होंगे जग से ?

तभी हृदय के भीतर कोई
धीरे-से आ कह जागा है—
मानव नहीं निरा पशु ही है
उसमें कुछ मानवता भी है—

अमर - चेतना अग्र - गामिनी—
जो न कभी मिट सकती भव से !

हमारा देश

देश हमारा शुष्क-ठूँठ-सा, जनता—उसके सूखे पत्ते ;
सदियों से यह ऐसा ही है, नहीं फूल तक इस पर खिलते।

शान्ति-विभव के सरस-मधुर-फल कभी नहीं इस पर लगते हैं,
दैन्य-दमन के झोंके खाकर पीले पत्ते झड़ पड़ते हैं!

पड़े-पड़े अवनति-गह्वर में सूखे पत्ते सड़ते जाते,
पशुओं-से पूँजीपति-शासक हरदम उनको चरते-खाते!

फिर भी मेरी आशा अब तक हरी-भरी है, मरी नहीं है ;
देशप्रेम की जलती चिनगी अब तक हममें बुझी नहीं है।

आएगी भीषण आँधी अब दावानल धू-धू धधकेगा ;
आएगी घनघोर वृष्टि भी फिर से नव-जीवन बरसेगा!

फूटेंगी नव-कोमल-कोंपल, हरा-भरा होगा यह सारा ;
नए-नए मृदु फल-फूलों से फूलेगा यह देश हमारा।

ईंधन

युग-युग से गिरता आया है जिस पर भावुकता-पानी,
अरे, उसी गीले ईंधन को आज जलाने की ठानी !

फूँक-फूँक कर हार गये तुम नहीं लपट इससे निकली;
यह गीले ईंधन-सी जनता चेतन होकर नहीं जली !

भीतर ही भीतर घुटता है धुआँ नहीं आता बाहर,
आज समर में जूझ सकेंगे कैसे सदियों के कायर ?

हमें आज चहिए खर-ज्वाला नहीं दार्शनिकता-गीली,
इस ईंधन को धधका देगी केवल एक तप्त-तीली !

बुद्धिवाद—दावानल से जब सूखेगा गीला ईंधन,
साक्षरता के प्रखर ताप में सबल बनेगा जब जन-मन,

तब ही देश-प्रेम-चिनगारी धधकेगा जाग्रत-जीवन,
मुक्ति-यज्ञ में देगा आहुति अपने ही तन की जन-जन !

फोड़ा

जगती के सामाजिक-वपु पर
यह पूँजीपति - वर्ग दीखता
टीस मारता, चपक चलाता
एक बड़ा-सा, रिसता फोड़ा—
धन की मैली गाँठ सरीखा—
जो सूजा है और कड़ा है,
जिसके भीतर भरा पड़ा है
बिगड़ा, सड़ा मवाद अहं का
सदियों से संचित हो-होकर।

इसे चाहिए ऐसा डाक्टर—
कार्लमार्क्स, लेनिन-सा सु-चतुर—
शल्यक्रिया में हो पारंगत,
विशेषज्ञ हो वर्ग-रोग का;
जो ले हँसिया और हथौड़ा,
या कि क्रान्ति का पैना नश्तर
चीर-फाड़ कर इसे मिटा दे
जगती के सामाजिक-वपु से,
भर दे घाव-घिनौना सत्वर!

हलचल

देश में आज मची हलचल !

चतुर्दिक् दिखता है शोषण,
चतुर्दिक् सुन पड़ता रोदन,
चतुर्दिक है घुटता जीवन,
चतुर्दिक् है लुटता जीवन,
चतुर्दिक् है सड़ता जीवन,
चतुर्दिक् है मिटता जीवन ;
चतुर्दिक् है जीवन निर्बल !
देश में आज मची हलचल !

नहीं दिखता खेतों में जल,
नहीं चलते धरती पर हल,
नहीं मिलता भूखों को अन,
नहीं नंगे ढक सकते तन,
रोज़ कितने मरते मानव,
पड़े सड़ते सड़कों पर शव ;
आज जन-जन बेबस, बेकल !
देश में आज मची हलचल !

नहीं शिक्षा पाते अनपढ़,
नहीं पैसा पाते श्रमकर,
नहीं करघों पर कपड़े बुन
बिता सकता कोई जीवन ;
चला करतीं नगरों में मिल,
चला करतीं गाँवों में कल,

छीनतीं श्रमिकों का श्रमफल!
देश में आज मची हलचल!

ग़रीबी से सब जर्जर-तन,
भूख से सबके जर्जर मन,
नहीं रहने को घर-छप्पर,
पड़े रहते फ़ुटपाथों पर,
मारता जूड़ी औ' हैज़ा,
नहीं औषध को भी पैसा,
सभी भूखे-नंगे—निर्बल!
देश में आज मची हलचल!

हमारे नेता सब बेकार,
जेल में सड़ते सब लाचार,
नहीं फिर भी हैं हम मुर्दार,
करेंगे हम अपना उद्धार,
जगा देंगे जन-जन में बल,
शोषकों को डालेंगे मल,
शासकों को डालेंगे दल!
देश में आज मची हलचल!

शत्रु आ धमका छाती पर,
लगे बम भी फटने भू पर,
नहीं रह सकते हम कायर,
नहीं झुक सकते अब ये सर,
नहीं लड़ने में हम कुछ कम,
मिटा देंगे उसका दम-ख़म,
तोड़ देंगे उसका सब बल!
देश में आज मची हलचल!

दलितों का गीत—१

मैं क्यों जग को प्यार करूँ ?

मैं जितना उसको अपनाता,
उतना वह मुझको ठुकराता,
ऐसे अपकारी का कैसे मैं कुछ भी उपकार करूँ ?
मैं क्यों जग को प्यार करूँ ?

मेरे रोने पर जो हँसता,
मेरे हँसने पर भी हँसता,
क्यों अपने पीड़ित कन्धों पर उसका दुख-सुख-भार धरूँ ?
मैं क्यों जग को प्यार करूँ ?

मैं जितना झुकता-घिघियाता,
उतना मुझे कुचलता जाता,
मुझे पीसकर जो जीता है क्यों उसके हित व्यर्थ मरूँ ?
मैं क्यों जग को प्यार करूँ ?

दलितों का गीत—२

मैं कीचड़ का कीट रहूँगा !

जग जिससे इतना बचता है,
फिर भी जिसमें जा फँसता है,
लाख निकाले उससे कोई, कभी नहीं निकलूँगा !
मैं कीचड़ का कीट रहूँगा !

मानव ने ही इसे बनाया,
मानव ने ही मुझे बनाया,
पैदा किया कीच में मुझको, सड़कर यहीं मरूँगा !
मैं कीचड़ का कीट रहूँगा !

मेरे तो बाहर ही कीचड़,
मानव के भीतर भी कीचड़,
उनमें मिलकर क्यों मैं अपना उर भी कीच करूँगा ?
मैं कीचड़ का कीट रहूँगा !

दलितों का गीत—३

मेरे तन में प्राण नहीं है !

मरी खाल से साँस निकलती ,
फिर भी जीवन-आग धधकती ,
मानव के पंजे से मेरा क्षण भर को भी त्राण नहीं है !
मेरे तन में प्राण नहीं है !

जितना मुझे चलाता चलता ,
शोषण की ज्वाला में जलता ,
अपने बलिदानों का मुझमें थोड़ा भी अभिमान नहीं है !
मेरे तन में प्राण नहीं है !

दिन भर भूखा-प्यासा रहता ,
रात पड़े मृत-सा पड़ रहता ,
मैं भी जी सकता हूँ—इसका मुझको कुछ भी ज्ञान नहीं है !
मेरे तन में प्राण नहीं है !

दलितों का गीत—४

बूँद-बूँद लोहू पीते हैं!

जोंक बने ये रक्त चूसते,
मुझ दरिद्र के प्राण लूटते,
मेरा जीवन पी-पीकर ही ये मानव जीते हैं!
बूँद-बूँद लोहू पीते हैं!

मैं दाने-दाने पर मिटता,
फिर भी पापी पेट न पटता,
ठूँस-ठूँसकर भरे उदर भी क्या इनके रीते हैं?
बूँद-बूँद लोहू पीते हैं!

क्यों ये तिल-तिल कर तड़पाते,
क्यों ना एक-कौर कर जाते?
इनसे तो कितने ही अच्छे शेर, बाघ, चीते हैं!
बूँद-बूँद लोहू पीते हैं!

दलितों का गीत—५

मैं क्यों अपने कर फैलाऊँ ?

मेरे पास हथौड़ा औ' हल,
मेरे पास अपरिमित भुज-बल,
मुझको मेरा स्वत्व छीनना, फिर क्यों मैं घिघियाऊँ ?
मैं क्यों अपने कर फैलाऊँ ?

क्यों मैं जिया करूँ टुकड़ों पर ?
क्यों मैं मरा करूँ जीवन भर ?
शोषण की ज्वाला में जल-जल क्यों मैं प्राण गवाऊँ ?
मैं क्यों अपने कर फैलाऊँ ?

मानव-जीवन भीषण-संगर,
विजयी कब होगा कायर नर ?
अत्याचारी के आगे फिर क्यों मैं शीश झुकाऊँ ?
मैं क्यों अपने कर फैलाऊँ ?

दलितों का गीत—६

सहने की सीमा होती है !

कब तक सहूँ, न बोलूँ मुख से ,
वक्ष फटा जाता जब दुख से ,
मानव के हाथों उत्पीड़ित मानवता मुझमें रोती है !
सहने की सीमा होती है !

जो मेरे स्वामी कहलाते ,
मुझको पीस पीस तड़पाते ,
इनकी झूठी दया-दक्षिणा मेरे उर में विष बोती है !
सहने की सीमा होती है !

मुझे सताते कर मन मानी ,
नहीं जानते ये अभिमानी ,
इन्हें जलाकर राख बना दे मुझमें वह चिनगी सोती है !
सहने की सीमा होती है !

दोषी कौन ?

अरे, किसे हम दोषी मानें ? किसने हमें ग़ुलामी दी ?
जब हमने अपने ही हाथों निज माँ की क़र्बानी की !
हमने ही पहनीं हथकड़ियाँ, हमने आज़ादी बेची ;
भाई ने अपने हाथों से भाई की गर्दन रेती !

अरे, हमारी फूट-कलह क्या कोई बाहर से लाया ?
क्या हमको कायरता-बाना शासक-दल ने पहनाया ?
किसने घृणा सिखाई हमको म्लेच्छों और अछूतों से ?
किसने नारी-शक्ति नष्ट की घर में घेर पत्थरों से ?

अरे, भुला दी हमने ही जब अपनी संस्कृति, काव्य-कला ,
मिली हमें पाश्चात्य-सभ्यता और दासता—शाप मिला !
हमने ही अपनी करनी से अपनी आत्मा को कुचला !
फिर क्यों दोष दूसरों को दें ? जो बोया था वही फला !

यदि हममें है अब भी थोड़ा साहस और शक्ति बाक़ी ,
यदि हममें है अब भी थोड़ी चिन्ता निज-बन्दी-माँ की ,
तो हम मुक्ति छीन ही लेंगे लगा मृत्यु से भी बाज़ी !
ऐसा कौन विश्व में, हमसे दूर रखेगा आज़ादी ?

जीवन-पथ पर

बढ़े जा रहे हैं पग मेरे, क्यों ये चलते ही जाते हैं ?
काँटों में बिंध कर भी कैसे पथ पर बढ़ते ही जाते हैं ?

मैं तो थक कर चूर हो गया नहीं चला जाता अब डग भर ,
डगमग-डगमग पग करते हैं पर चलते जाते हैं मग पर !

मुझ निर्जीव-लोथड़े को ये कैसे खींचे ले जाते हैं ?
कैसे इस दुर्वह-बोझे को ये दुर्बल ढोए जाते हैं ?

जगह-जगह है फटी बिवाई, छाले छिल कर घाव हो गए ;
पर चलने के मधुर-चाव में इनके सभी अभाव खो गए ?

छिप कर मेरे इन पैरों में क्या जीवन-इच्छा चलती है ?
इस अछोर-पथ-सी ही जिसको दुख-सुख की छलना छलती है ?

चलना ही इनका जीवन है, रुकना मानो मर जाना है ;
जीने-मरने का रहस्य क्या इन पैरों ने ही जाना है ?

मैंने तो रुकना चाहा था, पर इनकी गति तीव्र हो गई ;
मैं भी इनसे हार मान कर चलता हूँ इनके पीछे ही !

काल-चक्र

काल-चक्र चलता जाता है!
नया - नया नित पैदा होता,
जरा-जीर्ण मिटता जाता है!
काल-चक्र चलता जाता है!

जन्म, मृत्यु, दुख-सुख सब जग में
आते - जाते बारी - बारी,
जीवन का यह चिर - परिवर्त्तन
हो उठता क्यों सबको भारी?

रो-रोकर मरते हैं कायर,
सीना तान वीर जीते हैं;
कई अभागे पड़े - पड़े ही
हाय - हाय कर तन तजते हैं;

सड़ा - गला पिसता जाता है,
रक्त - सनी गीली - मिट्टी पर
नया जगत उगता जाता है!
काल - चक्र चलता जाता है!

मानव से

तू विध्वंसक ! नाश करे चल !

किसने कहा आग से री, उठ !
महानाश-ज्वाला में जल उठ !
ज्वाल-जाल में जला जीर्णता
कर दे राख काठ के जंगल !
कर दे भस्म भ्रष्ट-मानवता,
कर दे नष्ट दैन्य - दुर्बलता,
अस्थि-रूढ़ियाँ, शव-सी-जड़ता,
कर दे क्षार शीर्ण-अवनीतल !

तू विध्वंसक ! नाश करे चल !

किसने कहा बाढ़ से री, बह !
बढ़ा वर्त्तुलाकार-भुजाएँ,
तोड़-फोड़ कर चूर शिलाएँ,
उथल-पुथल कर दे वसुधातल !
ऊँचे - ऊँचे महल ढहा दे,
व्यर्थ झाड़ - झंखाड़ बहा दे ;
उमड़ प्रलय-सागर-सी अहरह
कर दे एक गगन औ भूतल !

तू विध्वंसक ! नाश करे चल !

किसने कहा प्रभंजन से, चल !
भर अजेय - उद्वेग वेग में
नष्ट - भ्रष्ट कर दे पुर-उपवन,
कर दे अस्त-व्यस्त ———— !
उठें ज्वार सागर में भीषण,
उठें धूलि के घोर बवन्डर,
डूबें दानव, डूबे पशुबल,
रहे प्रलय-प्लावन या मरुथल !

तू विध्वंसक ! नाश करे चल !
तू स्रष्टा है ! सृष्टि करे चल !

कह दे, अरे मेघ टुक उठ तू !
छोड़ गगन धरती पर झुक तू !
किरन-करों से खींच सिन्धु-जल
तप्त - दग्ध - अभिशप्त-धरा को
बरस - बरस कर दे तू शीतल,
कर दे सरस, स्निग्ध औ' कोमल !
भर दे सर-सरिता में नव - जल !
भर दे मृत-जगती में नव-बल !

तू स्रष्टा है ! सृष्टि करे चल !

कह दे तनिक वायु से रुक तू !
हरे, सघन वृक्षों में रह तू !
यदि होना हो तुझको चंचल,
बीज-अंकुरों से भर अंचल
दूर-दूर खेतों पर ले जा
बो दे बीज शस्य के कोमल !

कर दे नई सृष्टि धरती पर,
हरा-भरा हो यह वसुधातल !

तू स्रष्टा है ! सृष्टि करे चल !

तू विध्वंसक ! तू स्रष्टा है !
ध्वंस करे चल ! सृष्टि करे चल !

एक आँख में तेरी विष है,
एक आँख में सुधा भरी है ;
एक हाथ में तेरे क्षय है,
एक हाथ में सृष्टि धरी है ;
एक चरण में मृत्यु, दूसरे
में तेरे अशेष - जीवन - बल !

तू विध्वंसक ! तू स्रष्टा है !
ध्वंस करे चल ! सृष्टि करे चल !

मानव

मानव नहीं जो दासता के बन्धनों में जी सके।
मानव नहीं जो कायरों-सा मौत से भागे डरे।
मानव नहीं जो धन-विभव-ऐश्वर्य को ही सार जाने।
मानव नहीं जो ज़िन्दगी की ठोकरों से हार माने।
मानव नहीं जो दूसरों का खून पी-पी कर पले।
मानव नहीं जो दूसरों को पीसकर फूले-फले।

मानव वही जो मुक्ति में ही सिर्फ़ जीना जानता हो।
मानव वही जो देश के हित प्राण देना जानता हो।
मानव वही जो आफ़तों से जूझता-लड़ता रहे।
मानव वही जो ज़िन्दगी के दुःख को सुख-सा सहे।
मानव वही जो दूसरों की पीर को पहचानता हो।
मानव वही जो एक मानव-धर्म को ही मानता हो।

सत्यं, शिवं, सुन्दरं

दानव तो मरे युगों पहले,
देवता भी न रहे अब दृश्य;
मिटता जाता पशुबल भू से,
मानव, तू ही बस रहा सत्य!

दानव तो सदा अशिव ही थे,
कल्याण किया देवों ने कब?
पशुता, शिवता—दो भिन्न वस्तु,
मानव, तू ही संसृति में शिव!

जिस नारी ने दानव मोहे,
जिसके वश में थे सभी अमर,
तुझको उसका अनुराग मिला,
मानव, तू ही केवल सुन्दर!

मानव महान्

मानव महान्! मानव महान्!
तू विभु का भू को महत्-दान!
मानव महान्! मानव महान्!

तू एक व्यक्ति, तू ही समष्टि,
तू जन-समाज, तू अखिल सृष्टि,
तुझ पर ही आश्रित विश्व-त्राण!
मानव महान्! मानव महान्!

तू कर्मशील, दुर्धर्ष - वीर,
तू हर्ष - शोक में नित्य - धीर,
तू तर्कशील, तू बुद्धिमान!
मानव महान्! मानव महान्!

सब संस्कृति, कला, काव्य सुन्दर
तेरे उर से निःसृत होकर
हैं सफल, अमर, उन्नति-प्रमाण!
मानव महान्! मानव महान्!

तू दया - सिन्धु, प्रणयावतार,
तेरे उर में करुणा अपार,
तू शुद्ध - बुद्ध, सशरीर - ज्ञान!
मानव महान्! मानव महान्!

तू पाप-पुण्य से अनिर्लिप्त,
तू तेज - पुंज, तू प्रेम - दृप्त,
तू सत्य - सहज, तू मुक्त - प्राण!
मानव महान्! मानव महान्!

अरे, कहे जा खरी-खरी तू !

अरे, कहे जा खरी-खरी तू
जब तक तेरे अधर खुले हों,
जब तक तेरा गला मुक्त हो,
जब तक तेरे स्वर न रुँधे हों!
जब तक तेरे मिटते तन में
जीवन के दो श्वास बचे हों!
जब तक तेरा मन हो जीता,
अरे, कहे जा खरी-खरी तू!

जब तक शेष एक चिनगारी
तब तक आग कभी बुझती है?
जब तक बाक़ी एक लहर भी
तब तक बाढ़ कहाँ रुकती है!
अब तक तो तेरा तन तेरा
अब तक तो तुझमें जीवन है!
महा-मृत्यु के अंतिम क्षण तक
अरे, कहे जा खरी-खरी तू!

यह सच है, तेरा तन जर्जर,
रक्त नहीं है, मांस नहीं है!
यह सच, तेरा जीवन बन्दी,
मुक्ति नहीं, उल्लास नहीं है!
पर तेरे उर में साहस है,
उसकी धड़कन बन्द नहीं है!
तुझमें अभी सत्य जीता है,
अरे, कहे जा! खरी-खरी तू!

जीवन-शिक्षा

जीवन के दुख-क्लेश-कष्ट खर
नित्य अविचलित, निर्भय रहकर
अपने वज्र - वक्ष पर सहना
सीखे मानव पाषाणों से !

अंधकारमय जीवन-पथ पर
बाधाओं को नष्ट-भ्रष्ट कर
जीवन में नित आगे बढ़ना
सीखे मानव तूफ़ानों से !

विश्व - प्रेम के एक ध्येय पर
तन-मन-धन जीवन अर्पण कर
मुक्ति-शान्ति के हित मर मिटना
सीखे मानव परवानों से !

अदम्य जीवन

जीवन नहीं वह ओसकण
जो रवि - किरण पी जाय।
जीवन नहीं वह फूल
जो मृदु-घाम में कुम्हलाय।
जीवन नहीं वह दीप
जो लघु फूँक से बुझ जाय!

जीवन—कठिनतम शूल—
जो तोड़े, उसे चुभ जाय।
जीवन—भयंकर बाढ़—
जो रोके, वही बह जाय।
जीवन—धधकती आग—
जो छूए, वही जल जाय!

कवि-विषधर

जब रहती थी कविता वन में,
जब डूबे थे कवि दर्शन में,
तब मैं भी जड़ता की बिल में
करता रहता चिन्तन मन में।

जब जीवन में था ज्ञान प्रबल,
जब खाते थे कवि जँगली फल,
मैं भी भक्षण करता मारुत
पीता था पावन गंगाजल।

जब सामन्ती कवि थे चारण,
जब अन्नदाताओं का वन्दन
या सुरा-सुन्दरी का सेवन
था कविता का गर्हित जीवन,

मखमली म्यान में तब मैं छिप
रहता था विषय-वासना-रत
झटके खा-खा होता उद्यत्
टपकाता था कुछ विग्रह-विष।

जब भक्ति-लहर भू पर उमड़ी,
जब पगली हो कविता मचली,
तब मैं भावुकता-पूँगी सुन
था नाच उठा मोहित-नत-फन।

जब कवियों ने शृंगार किया,
कविता के सँग व्यभिचार किया,
मैं बना तरल-घुँघराली-लट,
मैंने घेरा कामिनि-कटि-तट,

मैं इठलाया, मैं लहराया,
मैंने बाँधे रसिकों के मन,
मैंने अधरों का मधु लूटा,
मैंने नारी को किया नग्न।

फिर जा सोया छाया वन में
देखा करता मधुमय सपने,
सुन भँवरों का उन्मन गुंजन
विस्मृति-तन्द्रा में हुआ मग्न।

सहसा जब वन में आग लगी
मैं चौंका, मेरी आँख खुली,
जड़ता की केंचुल फेंक अलग
मैं आया फिर बस्ती में चल।

बस्ती में भी देखी ज्वाला,
मैं क्रुद्ध बना विषधर काला,
मेरी जिह्वा पर उगा ज़हर,
मेरी वाणी में जगा क़हर,

जिसने छेड़ा, जिसने रोका
वह वहीं तड़पकर शेष हुआ,
मैं बना गरल, फुंकार उठा—
मेरे काटे की नहीं दवा!

फूल और काँटे

मुझे फूल बिलकुल न सुहाते, तीखे काँटे भाते !

जो न सहन कर सकते कोमल तितली का भी भार ,
जो न झेल सकते आतप, आँधी, पानी, बौछार ,
कैसे उन दुर्बल फूलों को मैं कर सकता प्यार ?
उनके कोमल-अंग विविध-रँग मुझको नहीं लुभाते !
मुझे फूल बिलकुल न सुहाते, तीखे काँटे भाते !

जिनके साथ किया करते हैं भँवरे नित व्यभिचार ,
उन कुलटाओं-से फूलों को लाख बार धिक्कार ,
अच्छा है उनका मुरझाना, उनका होना क्षार ,
जिनके सुरभित-श्वास वायु में कलुषित-विष फैलाते !
मुझे फूल बिलकुल न सुहाते, तीखे काँटे भाते !

रवि की आग, घोर जल-स्रावन, झंझावात-प्रहार ,
अडिग खड़े सहते रहते जो तूफ़ानों की मार ,
उन तीखे काँटों को ही मैं कर सकता हूँ प्यार ;
उनका साहस-शौर्य, अमित-बल मुझको मत्त बनाते !
मुझे फूल बिलकुल न सुहाते, तीखे काँटे भाते !

जो न सहन कर सकते क्षण भर शोषण, अत्याचार ,
अपनी ओर बढ़े हाथों पर जो कर सकते वार ,
जो जीवन-रक्षा कर सकते बहा रुधिर की धार ,
उन काँटों पर मैं दीवाना जो उर में गड़ जाते !
मुझे फूल बिलकुल न सुहाते, तीखे काँटे भाते !

क्या करूँ लेकर किसी का प्यार ?

क्या करूँ लेकर किसी का प्यार ?

जबकि मेरा देश बन्दी सीखचों में दीन,
जबकि मेरे बन्धु भूखे, नग्न, रुग्ण, मलीन,
जबकि जन-जन देश का पिस कर रहा चीत्कार,
क्या करूँ लेकर किसी का प्यार ?

जबकि पाने को किसी विधि एक मुट्ठी नाज,
देश की माँ-बेटियों की बिक रही है लाज,
जबकि श्रमकर-खेतिहर के लुट रहे घर-बार,
क्या करूँ लेकर किसी का प्यार ?

जबकि पूँजीपति ग़रीबों की कमाई छीन,
हो रहे हैं रक्त पी-पी कर अहर्निशि पीन,
जबकि चारों ओर होते हैं घृणित-व्यापार,
क्या करूँ लेकर किसी का प्यार ?

जबकि चारों ओर भू पर हैं शवों के झुण्ड,
जबकि चारों ओर दिखते हैं लहू के कुण्ड,
जबकि मानव कर रहा है चतुर्दिक् संहार,
क्या करूँ लेकर किसी का प्यार ?

जबकि मानव-मुक्ति का दृढ़ व्रत हृदय में ठान,
मैं बढ़ा कर्त्तव्य-पथ पर ले करों में प्राण,
देश-हित बलिदान होने को हुआ तैयार,
क्या करूँ लेकर किसी का प्यार ?

मुक्ति-कामना

नहीं निबल हो छुई-मुई-सी
मुक्ति-कामना तेरी !

अत्याचार-अनिल के आगे
जो सौ-सौ बल खाए,
जो शासक की एक तर्जनी
देख वहीं मुरझाए,
वही सबल हो कूट-शिखा-सी
यही चाहना मेरी !

नहीं निबल हो छुई-मुई-सी
मुक्ति-कामना तेरी !

जो धरती की दूब-सरीखी
आतप से जल जाए,
जो तरु के पत्तों-सी दुर्बल
झोंकों से झर जाए,
वही प्रबल हो अग्नि-कणों-सी
यही याचना मेरी !

नहीं निबल हो छुई-मुई-सी
मुक्ति-कामना तेरी !

जो अपने नंगे-सीने पर
सौ चोटें सह जाए,
आँधी औ' तूफ़ान दमन के
जिसको हिला न पाए,
बने सुदृढ़ वह वज्र-शिला-सी
यही साधना मेरी !

नहीं निबल हो छुई-मुई-सी
मुक्ति-कामना तेरी !

वह हो चाह चीरकर छाती
जो धरती की आए,
वह हो दाह उष्णता जिसकी
नभ को भी झुलसाए,
वह हो आग राख कर दे जो
बाधाओं की ढेरी !

नहीं निबल हो छुई-मुई-सी
मुक्ति-कामना तेरी !

मुक्ति-पथ

सुमन-सुरभित-पथ नहीं है
यह कँटीली - राह !

क्या न तुम यह जानते थे ?
खेल इसको मानते थे ?
जो चले थे साथ में ले
मोद - सुख की चाह !

सुमन-सुरभित-पथ नहीं है
यह कँटीली - राह !

दो क़दम भी चल न पाए,
पैर कैसे डगमगाए ?
क्या हुआ वह जोश सारा,
क्या हुआ उत्साह ?

सुमन-सुरभित-पथ नहीं है
यह कँटीली - राह !

देह से क्यों स्वेद झरता ?
नेत्र से क्यों नीर ढरता ?
क्यों निकलती है तुम्हारे
भीत - मुख से आह ?

सुमन-सुरभित-पथ नहीं है
यह कँटीली - राह !

त्याग दो यह क्लैव्य जड़ता ,
छोड़ दो सब मोह-ममता ,
ले चलो बस साथ में
बलिदान ही का भाव !

सुमन-सुरभित-पथ बनेगी
यह कँटीली - राह !

खुद-ब-खुद पग बढ़ चलेंगे ,
कण्टकों को दल बढ़ेंगे ,
मुक्ति - मंज़िल आयगी
खिंचकर स्वयं ही पास !

सुमन-सुरभित-पथ बनेगी
यह कँटीली - राह !

देह में भर गति पवन की ,
नेत्र में ज्वाला तड़ित् की ,
वक्ष में लेकर बढ़ो
तूफ़ान का उत्साह !

सुमन-सुरभित पथ बनेगी
यह कँटीली - राह !

उद्बोधन

मानव, ओ दुर्निवार !
नग्न करो खड्ग - धार !

कामना करो न नष्ट
नष्ट करो विश्व-भार !

मृत्यु से न मान हार
मुक्ति का करो प्रसार !

साधना करो न बन्द
बन्द करो द्वेष-द्वार !

वासना करो न मुक्त
मुक्त करो आज प्यार !

तोड़ दासता - पहाड़
मुक्त करो मुक्ति-धार !

तू युवक है, देश का उत्थान तेरे हाथ है !

तू युवक है, देश का उत्थान तेरे हाथ है !

चल रही हैं वक्ष में तेरे प्रलय की आँधियाँ,
जल रही हैं धमनियों में नव-रुधिर की बिजलियाँ,
प्रगति में तेरी सहस तूफ़ान का आघात है !
तू युवक है, देश का कल्याण तेरे हाथ है !

आज मिटती जा रही हैं गलित, सड़ती रूढ़ियाँ,
आज कटती जा रही हैं दासता की बेड़ियाँ,
देश का दुर्धर्ष जनबल आज तेरे साथ है !
तू युवक है, देश का निर्वाण तेरे हाथ है !

नष्ट कर दे धनी-मानी, धूल में उनको मिला,
जगत से सब वर्ग-विग्रह, दुःख-शोषण दे मिटा,
आज जन-विद्रोह में ही विश्व को विश्वास है !
तू युवक है, मुक्ति-पथ-संधान तेरे हाथ है !

हड्डियों की ईंट चुन-चुन, रक्त का गारा लगा,
साम्य की दृढ़ नींव पर तू महल नूतन कर खड़ा,
पूर्ण-जीवन की प्रगति में मुक्ति का अधिवास है !
तू युवक है, देश का निर्माण तेरे हाथ है !

मानव नित संग्राम चाहता !

जिस मानव के तप्त-रुधिर की बूँद-बूँद में जलती ज्वाला,
जिसके वज्र-वक्ष के भीतर नित्य कौंधती विद्युत्-माला,
वह कब झुका किसी के सम्मुख वह कब थक आराम चाहता ?
मानव नित संग्राम चाहता !

जिसकी जलती साँस-साँस में तूफ़ानी-आँधी चलती है,
जिसकी जाग्रत-जीवन-इच्छा दावानल-सी नित जलती है,
वह कब हारा विपदाओं से वह कब रुक विश्राम चाहता ?
मानव नित संग्राम चाहता !

जिसकी दृढ़-पग-गति के सँग-सँग प्रलय बँधा चलता नित पथ पर,
उसने कब रुकना जाना है भीत-त्रस्त हो बीच डगर पर,
बाधाओं से लड़ता-भिड़ता वह बढ़ना अविराम चाहता !
मानव नित संग्राम चाहता !

जिसकी बाहें फड़का करतीं जीवन-कलुष नष्ट कर देने,
जिसकी आँखें देखा करतीं निज भविष्य के उज्ज्वल सपने,
वह कब हुआ विरत लड़ने से वह जीवन अभिराम चाहता !
मानव नित संग्राम चाहता !

जयजयकार

गर्जे जयजयकार क्रान्ति का, गर्जे जयजयकार!
पग-पग पर मैंने निज पथ पर बिछा दिए अंगार!
दौड़ पड़ा मैं दीवाना-सा, अपनी सुध-बुध भूल।
कैसे मुझे रोक सकते अब पथ के काँटे फूल?
अग्र-दूत मैं विश्व-क्रान्ति का, मेरा जीवन आग।
कहता मैं सोते मानव से—'अरे, अभागे जाग!'
मुझे आज करना है जग में भीषण नर-संहार।
वर्ग-भेद, पाखण्ड-रूढ़ि की दीवारों को ढार।
मुझे आज करना है निर्मित एक नया संसार,
मानव के मुर्दा-शरीर में प्राणों का संचार!
मुझे आज पैदा करना है राष्ट्रों में सहकार।
जग से मुझे दूर करना है रोदन-हाहाकार।
निर्झर-सा मैं मुक्त बह चला गिरि की छाती फोड़।
उद्धत-यौवन के प्रवाह को कौन सकेगा मोड़?
मुझे कहाँ विश्राम? तनिक रुकना ही मेरा नाश,
कैसे मुझे बाँध रक्खेंगे जग के दुर्बल-पाश?
मेरा ध्येय—सामने तारा—नभ का लाल अँगार,
मेरा जीवन—मेरे पथ पर बिछे हुए अंगार!
गर्जे जयजयकार क्रान्ति का, गर्जे जयजयकार!

जागरण

जब देखा मैंने राष्ट्रों को उच्चादर्शों का दम भरते,
पर छोटे-छोटे स्वार्थों के हित कुत्तों-सा लड़ते-मरते;
जब देखा मैंने मानव को मानव की ही हत्या करते,
गाँवों-नगरों में, चौराहों पर, लाशों को गलते-सड़ते;
तब मेरे उर में हूक उठी, मेरे सीने पर तीर लगा,
मेरे जीवन में आग लगी, मेरे मन में विद्रोह जगा!

जब देखा मैंने धनिकों को दीनों का नित शोषण करते,
भूखों के मुख से कौर छीन अपने घर के कोठे भरते;
जब देखा मैंने जगह-जगह भूखों को भुनगों सा मरते,
चावल के कुछ दानों पर ही माँ-बेटी का विक्रय करते;
तब मेरे उर में हूक उठी, मेरे सीने पर तीर लगा,
मेरे जीवन में आग लगी, मेरे मन में विद्रोह जगा!

जब देखा मैंने जापानी पशुओं को बर्मा सर करते,
चटगाँव और कलकत्ते पर भारी जापानी बम गिरते;
जब देखा मैंने जनता को कायरता से लुकते-छिपते,
अपनी गठरी-मुठरी दाबे गीदड़-दल-सा बन-बन फिरते;
तब मेरे उर में हूक उठी, मेरे सीने पर तीर लगा,
मेरे जीवन में आग लगी, मेरे मन में विद्रोह जगा!

जब देखा मैंने ग़द्दारों को फ़ाशिस्तों का दम भरते,
जापानी-पशुओं के हाथों छुटकारे की आशा करते;
जब देखा मैंने जनता के नेताओं को बन्दी बनते,
जनता के सच्चे शूरों को फाँसी के तख़्तों पर चढ़ते;

तब मेरे उर में हूक उठी, मेरे सीने पर तीर लगा,
मेरे जीवन में आग लगी, मेरे मन में विद्रोह जगा!

जब देखा मैंने कवियों को अपनी प्रतिभा विनष्ट करते,
नारी के• नंगे-अंगों का रस ले-लेकर वर्णन करते;
जब देखा मैंने लेखक-गण जीवन-रण से लुकछिप चलते,
अवचेतन-मन, जड़-दर्शन के सूने-वन में विचरण करते;
तब मेरे उर में हूक उठी, मेरे सीने पर तीर लगा,
मेरे जीवन में आग लगी, मेरे मन में विद्रोह जगा!

मैंने देखा मैं आज जगा, मैं आज जगा दूँगा जग को,
मैं आग बना, जगती पर भी मैं आग बना दूँगा सबको;
मैंने देखा मैं आग लगा कर दूँगा जड़-जनता चेतन,
जागृति-जीवन से आग बुझा कर दूँगा समता-बीज वपन;
जग ने देखा मैं आज जगा, सबने देखा मैं आग बना,
लो, जन-जीवन में आग लगी, जनता में भी विद्रोह जगा!

सबने देखा मैं बढ़ आया, जनता के बीच खड़ा होकर,
मैंने ही पहला वार किया निर्भय होकर पूँजीगढ़ पर;
सबने देखा गिरता जाता शोषक-दल क्षत-विक्षत होकर,
अविचल बढ़ता जाता जन-जन विजयी होकर जागृति-पथ पर;
सबने देखा जग आज जगा, सबने देखा जग आग बना,
लो, जन-जीवन में आग लगी, जनता में भी विद्रोह जगा!

जीवन का ज्वालामुखी जगा !

जिस पर कब से थी राख ढकी,
जिसमें कब से थी आग दबी,
जो भीतर ही भीतर घुटती,
जो पाषाणों में थी बन्दी,
वह ज्वाला मुक्त हुई भड़की,
वह ज्वाला क्रुद्ध हुई धधकी,
सारा जगतीतल काँप उठा !
जीवन का ज्वालामुखी जगा !

काँपे भूधर, काँपी धरती,
काँपा अम्बर, काँपी जगती,
निकला धूँआ, लपटें निकलीं,
उमड़ा धूँआ, लपटें उमड़ीं,
भड़की ज्वाला, लपटें धधकीं,
नभ-मण्डल को छूने लपकीं,
सारा जलता—नभ लाल हुआ !
जीवन का ज्वालामुखी जगा !

बहता लावा, जलती दुनियाँ,
जलते पत्थर, जलती नदियाँ,
जल गए महल, प्रासाद, छतें,
जल गई मिलें, जल गई कलें,
जल गए खेत, मिट्टी के घर,
जल गए गाँव, जल गए नगर,

सारा जग जलकर राख बना !
जीवन का ज्वालामुखी जगा !

जल गए धनी-निर्धन सब ही
शोषक-शोषित, शासक-शासित,
जल गए धरा के सभी वर्ग
सब धर्म-कर्म, मन्दिर-मसजिद !

फिर धीरे-धीरे आग दबी,
फिर धीरे - धीरे आग बुझी,
फिर समता की सम-धरती पर
मानव-समता का स्वर्ग बसा !

जीवन का ज्वालामुखी जगा !

मुक्ति-गीत

मुक्ति की परियाँ उतरतीं आज लपटों पर !
वीर हँसते उल्लसित हो, काँपते कायर !
मृत्यु में चिर-मुक्ति का संकेत घिर आया ;
राग-दीपक ध्वंस ने आरोह में गाया !
जल गए लाखों करोड़ों मर गए मानव ;
दीखते चहुँ ओर हत-आहत, असंख्यों शव !
किन्तु मरकर दे गए वे मुक्त-जीवन-वर !
मुक्ति की परियाँ उतरतीं आज लपटों पर !

शहीदों के शवों से आज बहती ख़ून की धारा !

शहीदों के शवों से आज
बहती ख़ून की धारा !

गिरा करता कभी जिनके
दृगों से अश्रुजल - खारा,
न था जिनके लिये कोई
ग़ुलामी के सिवा चारा,
उन्होंने ही चुनौती दे
दमन को आज ललकारा !
शहीदों के शवों से आज
बहती ख़ून की धारा !

अभागे देशद्रोही वे—
जिन्होंने मुक्ति को हारा,
डुबोया, खो दिया था
दासता में शान्ति-सुख सारा,
उन्होंने ही लगाया आज
भीषण क्रान्ति का नारा !
शहीदों के शवों से आज
बहती ख़ून की धारा !

जिन्हें था धन-विभव-ऐश्वर्य,
अपना स्वार्थ ही प्यारा,
उन्होंने भी ख़ुशी से आज
छोड़े पुत्र औ' दारा,
उन्होंने देश के हित आज
अपना प्राण तक वारा!
शहीदों के शवों से आज
बहती ख़ून की धारा!

जिन्होंने युग-युगों से क्लीव-
कायर - वेश था धारा,
उन्होंने आज आगे बढ़
समर में शत्रु को मारा,
प्रहारों से उन्हीं के आज
गिरती टूट कर कारा!
शहीदों के शवों से आज
बहती ख़ून की धारा!

शोणित-तर्पण

आज करो तुम उन वीरों का
शूरो, गर्म-लहू से तर्पण !

कूद पड़े जो अग्नि-कुण्ड में
आहुति देने निज प्राणों की,
नहीं जिन्होंने की कुछ पर्वा
लपटों में जल मर जाने की,
किया देश के मुक्ति-यज्ञ में
जिन वीरों ने प्राण-विसर्जन,

आज करो तुम उन वीरों का
शूरो, गर्म-लहू से तर्पण !

बसे सीखचों के भीतर जो
तोड़ सभी माया के बन्धन,
भुला दिए आज़ादी के हित
जिन वीरों ने निज प्रिय-परिजन,
किया मुक्ति की बलिवेदी पर
हँसते-हँसते तन-मन अर्पण,

आज करो तुम उन वीरों का
शूरो, गर्म लहू से तर्पण !

अपने कफ़न लपेटो सिर पर
कूद पड़ो तुम समरांगण में,
भर-भर उष्ण-रक्त से खप्पर
खेलो फाग मुक्ति के रण में,
करो आज नंगी तलवारें,
खोले रण-चण्डी अवगुण्ठन,

आज करो तुम उन वीरों का
शूरो, गर्म-लहू से तर्पण !

आज़ादी की थी आमंत्रित
जिन वीरों ने जीवन देकर,
उन वीरों की अमर-याद में
उनकी पावन चिताभस्म पर
शोणित अर्पण कर न सको तो
व्यर्थ तुम्हारा जीवन-यौवन,

आज करो तुम उन वीरों का
शूरो, गर्म लहू से तर्पण !

जय हो !

जनबल तेरी
जय हो ! जय हो ! जय हो !

भारत-भू पर ,
स्वर्ण-प्रसू पर ,
घोर दास्य का ,
दमन-राज्य का
क्षय हो ! क्षय हो ! क्षय हो !

मानव-पशु को ,
क्रूर दनुज को ,
रक्तपात का ,
बन्धुघात का
भय हो ! भय हो ! भय हो !

युद्ध-क्रान्ति का ,
हिंस्र-भ्रान्ति का ,
सत्य - अहिंसा ,
प्रेम-शान्ति में
लय हो ! लय हो ! लय हो !

मानव-मन में ,
जग-जीवन में
करुणा-घन का
शीतल - पावन
पय हो ! पय हो ! पय हो !

जाति-जाति में ,
देश-देश में ,
मुक्ति-क्षेम का ,
विश्व-प्रेम का
चय हो ! चय हो ! चय हो !

जनबल तेरी
जय हो ! जय हो ! जय हो !

ओ री, शान्ति-परी !

छः वर्षों तक कहाँ छिपी थी
ओ री, शान्ति-परी !

निर्जन हिम-गिरि-गहन-गुहा में
या कि विजन कानन-कँदरा में,
किसी अतल-सागर के तल में
या कि धरा के अगम-उदर में,
इस हिंसक मानव से बचने
तू जा छिपी, डरी !

मानव ने जब तुझे न पाया
महाप्रलय का नाट्य रचाया,
त्याग सभी करुणा-कोमलता
पशुता को हँस गले लगाया,
हरी-भरी तेरी धरती पर
दानवता उतरी !

छः वर्षों तक कहाँ छिपी थी
ओ री, शान्ति-परी !

चले धरा पर दनुजों के दल,
उठे गगन में काले बादल,
तोप-टैंक, जल-वायु-यान से
ढके धरातल, सागर, नभतल,
विविध अस्त्र-शस्त्रों से सारी
जगती भरी, घिरी!

चली ध्वंस-आँधी प्रलयंकर,
छिड़ा युद्ध का राग भयंकर,
गिरे धरा पर बम-विस्फोटक,
उठे धूलि के घोर बवन्डर,
खण्ड-खण्ड, विध्वस्त-घरों में
जनता दबी, मरी!

छः वर्षों तक कहाँ छिपी थी
ओ री, शान्ति-परी!

गिरे गगन से ज्वलित-अँगारे
जैसे टूटें जलते-तारे,
जले खेत-खलिहान, नगर-पुर
जले धरा के मानव सारे,
कोटि-कोटि ज्वालामुखियों से
मानों अग्नि झरी!

बने मनुज दानव-हत्यारे,
तप्त-रुधिर के बहे पनारे,
अबलाएँ, बूढ़े, बालक तक
गए मृत्यु के घाट उतारे,

मानव ने मानव-शोणित से
वसुधा लाल करी !

छः वर्षों तक कहाँ छिपी थी
ओ री, शान्ति-परी !

जो-मानव बच गए युद्ध से
वे न बच सके किन्तु मृत्यु से,
दीन किसान-मजूर बिचारे-
दले गए सब क्लेश-कष्ट से,
भूख, अकाल, रोग, महँगी ने
किए नष्ट सब री !

पड़ीं कड़ी बन्धन की कड़ियाँ,
नहीं टूटतीं आँसू लड़ियाँ,
त्राहि-त्राहि कर उठी मनुजता
घिर आईं जब अंतिम घड़ियाँ,
तब आहत, पीड़ित मानव ने
तेरी खोज करी !

छः वर्षों तक कहाँ छिपी थी
ओ री, शान्ति परी !

मिली शान्ति, तू मानव को फिर
पर विवर्ण-मुख, क्षत विक्षत उर,
तार-तार सब वस्त्र, देह भी
धूलि-धूसरित-विगलित-जर्जर,
सूखे अधर, विगत यौवन-श्री,
आँखें अश्रु भरी !

इस जगती के कोटि-कोटि नर
तेरे घायल-चरण पकड़ कर
लज्जित-क्षुब्ध-दुखी, आकुल-मन
कहते बार-बार गद्‌गद-स्वर—
कोटि-कोटि युग तक जगती में
शान्ति-परी, रह री !

छः वर्षों तक कहाँ छिपी थी
ओ री, शान्ति-परी !

घर-घर दीप जलाओ

घर-घर दीप जलाओ !

महल - प्रसादों के छज्जों पर,
अन्धकार से घिरे पथों पर,
कुटी - झोंपड़ों के द्वारों पर

दर - दर दीप जलाओ !

कोई दीप स्वर्ण - चाँदी के,
कोई दीप क्षुद्र मिट्टी के,
दीप - दीप के भेद भुला कर,
दीप - दीप में स्नेह सँजोकर

घर-घर दीप जलाओ !

पात्र सु-पात्र नहीं है कोई,
पात्र कु-पात्र नहीं है कोई,
पात्र - पात्र में ज्योति जगा कर,
उर - उर का वैषम्य मिटाकर

दर-दर दीप जलाओ !

मिटे धरा से गहन अँधेरा,
मिटे धरा से तेरा - मेरा,
जगती के ऊँचे - नीचे को,
जगती के बच्चे - बच्चे को

समता-मार्ग दिखाओ !
घर-घर दीप जलाओ !

मुक्ति की मशाल

मुक्ति की मशाल जल !
लाल-लाल ज्वाल जल !

घोर अन्धकार है,
चल रही बयार है,
वृष्टि दुर्निवार है,
देश तिमिर - ग्रस्त है,
देश क्लेश - त्रस्त है ;

ज्योति यह मिटे नहीं, आग यह बुझे नहीं ;
मुक्ति की मशाल जल ! लाल-लाल ज्वाल जल !

आज द्वार - द्वार पर,
नगर - ग्राम - बाट पर,
आज घाट - घाट पर
दिव्य - ज्योति यह जले,
भव्य - आग यह जले ;

दास्य-दैन्य नष्ट कर, क्लैब्य-कष्ट भस्म कर,
मुक्ति की मशाल जल ! लाल-लाल ज्वाल जल !

घेर - घेर आँधियाँ,
चमक - दमक बिजलियाँ,
बरस - बरस बदलियाँ
तेज को बुझा न दें,
शक्ति को मिटा न दें;

देह-स्नेह-सिक्त पर, प्राण-शक्ति-वह्नि धर,
मुक्ति की मशाल जल! लाल-लाल ज्वाल जल !

मिलन में, वियोग में,
हर्ष - रुदन - शोक में,
युद्ध, शान्ति - भोग में
चेतना बनी रहे,
ज़िन्दगी जगी रहे,

मनुजता मरे नहीं, मृत्यु से डरे नहीं;
मुक्ति की मशाल जल ! लाल-लाल ज्वाल जल !

आज गतिवरोध को,
फूट को, विरोध को,
दमन - लोभ - क्रोध को
आग यह जला सके,
देश से मिटा सके,

मार्ग-नव दिखा सके, देश को करे सबल !
मुक्ति की मशाल जल ! लाल-लाल ज्वाल जल !

भूख औ' अकाल से,
रोग - शोक - ब्याल से,
बाढ़ महाकाल से
आग यह बचा सके,
मृत्यु को हरा सके,

आज मुक्ति-यज्ञ में देश को करे सफल!
मुक्ति की मशाल जल! लाल-लाल ज्वाल जल!

मुक्ति के लिए जिएँ,
मुक्ति के लिए लड़ें,
मुक्ति के लिए मरें;
मुक्ति के विकास में,
मुक्ति के प्रकाश में

मुक्ति पा सकें सभी; आज मुक्त हों सकल!
मुक्ति की मशाल जल! लाल-लाल ज्वाल जल!

कविता-क्रम

कविता				पृष्ठ
१—प्रवचन	...	...	...	१
२—बुझा-दीपक	...	...	...	२
३—फ़व्वारा	...	...	...	३
४—निर्वसना	...	...	...	६
५—मानवता	...	...	...	८
६—हमारा देश	...	...	...	१०
७—ईंधन	...	...	...	११
८—फोड़ा	...	...	...	१२
९—हलचल	...	...	...	१३
१०—दलितों का गीत—१		...	...	१५
११—दलितों का गीत—२		...	...	१६
१२—दलितों का गीत—३		...	...	१७
१३—दलितों का गीत—४		...	...	१८
१४—दलितों का गीत—५		...	...	१९
१५—दलितों का गीत—६		...	...	२०
१६—दोषी कौन	...	...	...	२१
१७—जीवन-पथ पर	...	...	...	२२
१८—काल-चक्र	...	...	...	२३
१९—मानव से	...	...	...	२४
२०—मानव	...	...	...	२७

कविता				पृष्ठ
२१—सत्यं, शिवं, सुन्दरं	...	...		२८
२२—मानव महान्	...	...	...	२९
२३—अरे, कहे जा खरी-खरी तू	...	...		३०
२४—जीवन-शिक्षा	...	...	...	३१
२५—अदम्य जीवन	...	...	...	३२
२६—कवि-विषधर	...	...	...	३३
२७—फूल और काँटे	...	...	...	३५
२८—क्या करूँ लेकर किसी का प्यार ?			...	३६
२९—मुक्ति-कामना	...	...	...	३७
३०—मुक्ति-पथ	...	...	...	३९
३१—उद्बोधन्	...	...	...	४१
३२—तू युवक है, देश का उत्थान तेरे हाथ है !				४२
३३—मानव नित संग्राम चाहता !			...	४३
३४—जयजयकार	...	...	...	४४
३५—जागरण	...	...	...	४५
३६—जीवन का ज्वालामुखी जगा !			...	४७
३७—मुक्ति-गीत	...	...	...	४९
३८—शहीदों के शवों से आज बहती खून की धारा !				५०
३९—शोणित-तर्पण	...	...	...	५२
४०—जय हो !	...	...	...	५४
४१—ओरी, शान्ति-परी !		...	...	५६
४२—घर-घर दीप जलाओ !		...	...	६०
४३—मुक्ति की मशाल		...	...	६२